न्यायविशारद–न्यायतीर्थ महाराज–

न्यायविजयजी की रचित–

न्याय-शिक्षा.

श्री विद्याविजय प्रिन्टिंग प्रेस–भावनगरमें मुद्रित

वीर सवत् २४४० मू० रू. ०।

NYAYA-SHIKHSHA.

Prepared by

NYAYAVISHARADA-NYAYATIRTHA

MAHARAJ **NYAYAVIJAYAYAJI**

Printed by Purushottamdas Gigabhai at his
'Vidya Vijaya' Printing Press-BHAVNAGAR

Vira Era 2440 1914

Price 4 annas

शिक्षा-द्वार.

जिन्हों ने सब कर्म, उग्रतप मे विध्वंस में ला दिये
जिन्हों ने निज आत्म-वैभव जगा तीनों जगत् पा लिये।
जिन्हों के चरणारविन्द युग को देवेन्द्र भी पूजते
वे तीर्थंकर-विश्वनाथ, हम को आनन्द देते रहें ॥ १ ॥
और—

जिन्हों के पुरुषार्थ-बुद्धिबल से वाराणसी में यहीं
श्रीविद्यालय, पुस्तकालय, तथा, शाला पशु-प्राणि की।
एवं श्री मरुदेश-जोधपुर में श्री जैनसाहित्य की
पैदा की, पहिली महा परिषदा, उन्हें नमूँ साञ्जलि ॥ २ ॥

यह तो प्रसिद्ध ही बात है कि बिना प्रयोजन, कोई शख्स प्रवृत्ति नहीं करता, विशेषतया बुद्धिमानोंकी प्रवृत्तिमें तो कुछ न कुछ प्रयोजन-उद्देश अवश्य रहता है, वह प्रयोजन दो प्रकारका है-स्वार्थ, और परार्थ। कितने ही क्या, बहुत लोग, ऐसे देखे जाते हैं कि 'पेट भरा भण्डार भरा' मन्त्रके उपासक बने हुए, सिर्फ अपने मतलबमें, गोतें मारा करते हैं, मगर यह अधम पुरुषोंका काम है, अपना पेट तो कुत्ते गदहे तक भी भर लेते हैं, पर परोपकार करना, यही मानव जीवनका सार है,

जिन्हों ने सब कर्म, उग्रतप से विध्वंस में ला दिये
 जिन्हों ने निज आत्म-वैभव जगा तीनों जगत् पा लिये।
जिन्हों के चरणारविन्द युग को देवेन्द्र भी पूजते
 वे तीर्थंकर-विश्वनाथ, हम को आनन्द देते रहें ॥ १ ॥
 और—

जिन्हों के पुरुषार्थ-बुद्धिबल से **वाराणसी** में बड़ी
 श्रीविद्यालय, पुस्तकालय, तथा, शाला पशु-प्राणि की।
एवं श्री **मरुदेश-जोधपुर** में श्री जैनसाहित्य की
 पैदा की, पहिली महा परिषदा, उ हैं नमूँ साञ्जलि ॥ २ ॥

यह तो प्रसिद्ध ही बात है कि बिना प्रयोजन, कोई शख्स प्रवृत्ति नहीं करता, विशेषतया बुद्धिमानोंकी प्रवृत्तिमें तो कुछ न कुछ प्रयोजन-उद्देश अवश्य रहता है, वह प्रयोजन दो प्रकारका है—स्वार्थ, और परार्थ। कितने ही क्या, बहुत लोग, ऐसे देखे जाते हैं कि 'पेट भरा भण्डार भरा' मन्त्रके उपासक बने हुए, सिर्फ अपने मतलबमें, गोतें मारा करते हैं, मगर यह अधम पुरुषोंका काम है, अपना पेट तो कुत्ते गदहे तक भी भर लेते हैं, पर परोपकार करना, यही मानव जीवनका सार है,

दूसरेका उपकार करना क्या है, मानो ! अपनी आत्माका उपकार करना है, परोपकार, स्वोपकार से कोई जुदा नहीं है, परोपकारके पेटमें, स्वोपकार कायम रहता है, धर्मात्मा महानुभावोंकी समग्र प्रवृत्तियाँ, परोपकारसे भरी रहती हैं, महात्माओंके शरीरके समग्र प्रदेश, कुट कुट कर परोपकार बुद्धिसे, ऐसे अट्ट भरे होते हैं, मानो ' कि उनके शरीर, परोपकार रूप ही परमाणुओंसे बने हुए न हों ' ।

एक परोपकार ससार सबधी किया जाता है, दूसरा आत्मश्रेयसबधी । इनमें आत्मश्रेय सबधी परोपकार करनेवाले सत महात्मा, थोडे हैं । समस्त मानवजातिका, यह फर्ज है, कि आत्मश्रेयसबधी-उपकार पानेकी प्यास रक्खा करें, और ऐसा उपकार करनेवाले महात्माओंकी तलाशमें फिरते रहें, यही परोपकार, वास्तवमें परोपकार है, इसी परोपकारसे, परोपकार करनेवाला, और परोपकार पानेवाला पुरुष, ससार समुद्रको, दोला कर देता है। ऋषि-महात्मा लोग, तरह तरहकी घटना युक्त जो उपदेशधारा वर्षाते हैं, और अच्छे अच्छे धर्मशास्त्र बनाते हैं, सो, लोगोंको धार्मिक-उपकार करनेके लिये, भूख, प्यास, अथवा जहर वगैरहसे मरते हुए आदमीको बाहरके प्राण देनेवाले बहुतसे प्रयोग दुनियाँमें मौजूद हैं, अगर न भी हों, तो भी क्या हुआ, मरता हुआ आदमी मरकरके एकदम भस्मसात् तो नहीं होगा, अर्थात् उसकी आत्मा, एकदम नष्ट तो नहीं होगी, मर कर-एक घरको छोड, स्वर्ग, मानव, तिर्यंच, अथवा अन्यत्र नया घर स्थापेगा, मगर जिसके भाव प्राण नष्ट होजाते हों, अर्थात् जिसकी आत्माकी वास्तविक ज्ञान, सयम और वगैरह सपदाएँ खाक हो जाती हों, यानी धर्मसे परिभ्रष्ट हो कर, अधर्मका अनुचर बना हुआ जो आदमी, भयानक भव जगलमें भटक रहा

हो । उसको, उपदेश द्वारा जो धर्मके रास्ते पर लाना है, सो, उसे, भाव प्राण–भाव जीवन ही देना है, और यही उपकार, सबसे बढ कर है । आत्माकी वास्तविक लक्ष्मीका, अथवा यों कहिये ! आत्माके स्वाभाविक स्वरूपका, जो घात होना है, सो, आत्माके वास्तविक जीवनका सत्यानाश होना क्या नहीं है ? बराबर है, इस लिये, लोगोंके जीवनका सुधार हो, धर्मके आदर तरफ लोगोंके मनकी प्रवृत्ति हो, इसी उद्देशसे, विद्वान्महाशय लोग, धार्मिक उपकार करनेमें कटीबद्ध होते हैं ।

प्रजाको, धर्मकी सडक पर पहुँचानेके लिये, मुख्यत्वेन दो साधन हैं–वक्तृता और लेखनी । इनमें भी, धर्मके फैलावका विशेष साधन, लेखनी मालूम पडती है, बेशक ! मगर उपदेशकी ध्वनिका प्रभाव, श्रोताओंके हृदयों पर, जितना असर डालता है, उतना असर, पुस्तक वाचनसे, नहीं हो, सकता, तो भी, धर्मके प्रवाहको, अस्खलित बहानेका, धर्मकी नींवको, मजबूत रखनेका, प्रधान साधन, सिवाय लेखनी (कलम), कौन किसे कहेगा ? । उपदेशके पुद्गलात्मक वर्ण, श्रवणमात्रके अनतर, पलायन कर जाते हैं, पर वही उपदेश, अगर पुस्तकमें आरूढ कर दिया हो, तो, भविष्यमें उससे, कितने जीवोंको लाभ पहुँचेगा, यह कहनेकी कोई जरूरत नहीं । वक्तृता, सुनने वालों ही को अल्प समय या बहुत समय तक फायदा पहुँचाती है, मगर कलमकी रचना, अपनी आयुतक, अनियमित–बहुतेरे सज्जनोंको, फायदा पहुँचाती है, इसमें क्या सन्देह ? ।

लेखक महाशयका, पुस्तक लिखनेका प्रयोजन, दो प्रकारका है–स्वार्थ, और परार्थ । वे ही दो प्रयोजन, वाचक वर्गके लिये भी समझने चाहियें । लेखकका साक्षात् स्वार्थ–आत्म प्रयोजन, तत्त्वका प्रतिपादन करना है, अर्थात् तत्त्वज्ञान दे के वाचक जीवों-

का, उपकार करना है, और वाचक जीवोंका पुस्तक वाचने या पुस्तक पढनेका साक्षात् प्रयोजन, पुस्तकमें लिखे हुए पदार्थोंका ज्ञान पाना है, और लेखक-वाचक, दोनोंका परंपरा प्रयोजन तो, तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है।

इसी स्वोपकार रूप परोपकारके लिये-लोगोंको धर्मका पता प्रकाशित करनेके लिये, विद्वान् महानुभाव लोग, अच्छी अच्छी पुस्तकें बनाते हैं, और अपना जीवन, पवित्र-निर्मल करते हैं, सो भी यह तो जरूर खयालमें रहे कि धर्म जैसी कोई दुर्लभ चीज नहीं है, जिसकी तकदीरका सितारा चमक रहा हो, जिसके ललाट पट्टमें, पवित्र पुण्यकी रेखाएँ झलक रही हों, वही सज्जन, धर्मकी सडकका मुसाफिर बन सकता है, दुनियामें हजारों लाखों करोडों राजा, महाराजा, महाराजाधिराज गुंज रहे हैं, और पृथ्वीको छत्र बनाके अखण्ड साम्राज्य भोग रहे हैं, मगर धर्मराजा कहाँ ?, ऐसा साम्राज्य पानेकी तकदीर, उतनी दुर्लभ नहीं, जितनी दुर्लभ, धर्म पानेकी तकदीर है, धर्मको प्राप्त किये हुए लोग, जगत्में सम्ख्याबध अर्थात् अंगुली पर गिनतीके हैं। सब कोई, अपनी मनमानी बातको धर्म समझ, अपनेको धर्मात्मा मान बैठे है, मगर समझना चाहिये कि सत्य धर्म बहुत दूर है, धूल्के ढेरमेंसे गेहूंक कणोंकी तरह दु-नियाके मजहबोंमेंसे, सत्य धर्मके तत्त्वोंको जुदा करना, यह थोडी बुद्धिका काम नहीं है। जिनके दिमाग, न्यायके मैदानमें, तरह तरहकी कुश्ती कर मजबूत पक्के और स्वच्छ हुए हों, वे ही, प्रमा-ण-युक्ति रूप कसोटी पर, धर्मका निश्चल इम्तिहान कर सकते हैं, यह पक्की बात है कि जिसका दिमाग, न्यायकी तीक्ष्ण ज्वालाको नहीं सह सका, उसका सादा-भोला दिमाग, सत्य धर्मकी चिता पर, कभी स्थिर नहीं रह सकता, अतः बुद्धिका विस्तार करनेके लिये-अक्लको तेजस्विनी बनानेके लिये, न्याय शास्त्रका पढना बहुत जरूरी है।

न्याय शास्त्र भी, जुदे जुदे दर्शनोंके जुदे जुदे हैं–सब धर्म वालोंकी न्यायकी सडकें भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं, तौ भी, एक न्यायकी सडकके उल्लघनका पुरुषार्थ, जिसने बराबर जगाया, और अपना बुद्धिबल पुख्ता कर लिया, उसके लिये फिर और न्यायकी सडकें दुर्गम नहीं होतीं; मगर जिसने, न्याय शास्त्रकी गंध भी पहले नहीं ली, उसके लिये तो लंबी चौडीं न्याय–पुस्तक, शेरकी भाँती भयंकर ही होगी, इस लिये, न्याय तत्त्वके मसालादार दो चार लुकमे छोटे २ हल्के बनाके, शुरू शुरूमें अगर बालकोंको दिये जायँ, तो क्या अच्छी बात है, जिससे कि बालकोंके बुद्धि रूप पेटमें अजीर्णता, और अरुचि पैदा न होवे, और धीरे धीरे, ज्यों ज्यों रस स्वादका अनुभव बढता जाय, त्यों त्यों आगे आगे अधिक २ बडे २ न्याय–तर्कके लड्डू उडाने लग सकें, बस ! इसी विचारसे, और इसी उद्देशसे, इस न्याय–शिक्षाका जन्म हुआ है, यह छोटीसी न्याय पुस्तक, हिन्दी में इसी लिये लिखी गयी है कि सस्कृत भाषा नहीं पढे हुए भी जिज्ञासु लोग, मजेसे इसे पढने लग जायँ ।

हिन्दी भाषा क्या, कोई भी आर्य भाषा, वर्त्तमानमें देश व्यापिनी न होने पर भी, हिन्दी–भाषाका फैलाव, अन्य भाषाओंकी अपेक्षा ज्यादह होनेसे, हिन्दी पुस्तकसे लेखकका प्रयास जितना सफल हो सकता है उतना सफल, और भाषाकी पुस्तकसे नहीं हो सकता, यह स्वाभाविक है, इसी लिये यह किताब, और भाषाओंको छोड, हिन्दीमें लिखी गई ।

इस किताबमें, जैनन्यायशास्त्रोंके अनुसार, अत्यंत संक्षेपमें जो जो मूल २ बातें बताई गयी हैं, उनका अनुक्रम, आगे धरा है, वहींसे, इस किताबके विषय, कुछ लोग मालम कर सकते हैं। यह पुस्तक, अच्छी तरह पढ़ने पर, पढनेवाला अगर सम्स्कृतज्ञ हो, तो उसको, इसी पुस्तकके कर्ताके बनाये हुए, सस्कृतके 'न्यायतीर्थ प्रकरण' 'न्याय कुसुमाञ्जलि' 'प्रमाण परिभाषावृत्ति न्यायालङ्कार' ये तीन न्यायग्रन्थ, क्रमसे अवश्य, पढ़ने चाहियें, जिनसे बहुत अच्छी न्यायविद्याकी व्युत्पत्ति प्राप्त होगी।

निवेदक—

न्यायविजय।

विषयानुक्रम।

अर्हम्
शास्त्रविशारद–जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः

जैनसिद्धान्तमें वस्तुका अधिगम–परिचय, प्रमाण व नयसे माना है । उनमें, प्रमाण किसे कहते हैं ?, प्रमाणके कितने प्रकार हैं?, प्रमाणका प्रयोजन क्या है ?, प्रमाणका विषय कैसा है ?, इत्यादि प्रथम प्रमाण संबंधी विचार किये जाते हैं–

ज्ञान विशेषका नाम प्रमाण है, जिससे यथास्थित वस्तु-का परिचय हो, उसे प्रमाण कहते है । प्रमाण, ज्ञान छोड जड वस्तु हो ही नहीं सकती, क्योंकि जड पदार्थ खुद अज्ञान रूप है तो दूसरेका प्रकाश करनेकी प्रधानता कैसे पा सकता है ? । जैसे प्रकाशस्वरूप प्रदीप, दूसरेका प्रकाशक बन सकता है, वैसे स्वसंवेदन ज्ञान ही दूसरेका निश्चायक हो सकता है । जो वस्तु खुद ही जाड्य अंधकारमें डूब रही है, वह दूसरेका प्रकाश क्या खाक करेगी, इस लिये स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही दूसरेका प्रकाश करने-की प्रधानता रख सकता है । इसीसे ज्ञान ही प्रमाण कहा जाता है, न कि पूर्वोक्त युक्तिसे इन्द्रियसन्निकर्षादि । सहकारि कारणता तो इसमें कौन नहीं मान सकेगा ? । एवंच ज्ञान मात्र, स्वसंवेद-नरूप होनेसे, संदेह–भ्रम वगैरह ज्ञानोंमें प्रमाण पदका व्यवहार हटानेके लिये बाह्य–घटादि वस्तुका यथार्थ परिचय कराने वाले (निर्णय–ज्ञान) को प्रमाण कहा है । वह कौन ?, उपयोग-

भावेन्द्रिय ।

यह प्रमाण दो प्रकारका है । प्रत्यक्ष और परोक्ष । इनमें, साक्षात् प्रतिभासी ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है, अर्थात् 'यह रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द-सुख-दुःख' इत्यादि रूपसे साक्षात् परिचय, प्रत्यक्षसे होता है ।

वास्तवमें अगर देखा जाय तो, केवल आत्मा है निमित्त जिसकी उत्पत्तिमें,वही ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है । इन्द्रिय वगैर-हसे पैदा होनेवाले, चाक्षुष प्रत्यक्ष वगैरह ज्ञान तो, अनुमानकी तरह, दूसरे निमित्तसे पैदा होनेके कारण, प्रत्यक्ष नहीं हो सकते तो भी व्यवहारमें सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति करानेकी प्रधानता होनेके कारण, उन चाक्षुषादि-ज्ञानोंको व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है ।

इसीसे पाठक लोगोंको मालूम हो सकता है कि सांव्यव हारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद पड़ते हैं ।

इनमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, छ प्रकारका है –

स्पर्शन-जिह्वा-नासिका-नेत्र और कान, इन पांच इन्द्रियों और मनसे पैदा होनेवाला, क्रमश. स्पर्श-रस-गंध रूप शब्द और सुख वगैरहका प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहाता है, अर्थात् स्पार्शन-रासन-घ्राणज-चाक्षुष-श्रावण और मानस ये छ प्रकारके प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक शब्दसे व्यवहृत किये जाते हैं ।

इन प्रत्यक्षोंमें विषयके साथ सब इन्द्रियोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती, किंतु चक्षुको छोड दूसरी इन्द्रियां विषयके साथ प्राप्त होती हैं । चक्षु इन्द्रिय तो विषयसे दूर रहनेपर भी विषयको

ग्रहण करती है।

अगर च विषयको प्राप्त कर चक्षु इन्द्रिय ग्रहण करेगी, तो इसमें दो विकल्प उठते हैं-'क्या विषयके पास चक्षु जाती है ?' अथवा 'चक्षुके पास विषय आता है ?'।

इनमें दूसरा पक्ष तो बिलकुल दुर्बल है, क्योंकि दूरसे वृक्ष आदि देखते हुए मनुष्यके चक्षुके पास वृक्ष-पहाड़ वगैरह वस्तु नहीं आती। अब रहा प्रथम पक्ष, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंका यह नियम है कि शरीरसे बाहर न निकलना। देख लीजिये! कोई भी ऐसी इन्द्रिय नहीं है, जोकि शरीरसे बाहर निकलकर विषयको ग्रहण करती हो जब यही बात है, तो फिर स्पर्शन वगैरह इन्द्रियोंकी तरह चक्षु इन्द्रिय भी शरीरहीमें रहकर विषयको ग्रहण करती हुई क्यों न माननी चाहिये ?।

शब्द और गंध के पुद्गल, क्रियावान् होनेसे, श्रोत्र और नासिका इन्द्रियके पास आ सकते हैं,इस लिये श्रोत्र और घ्राण इन्द्रिय, प्राप्य कारिणी कही जाती हैं।

इसीसे यह भी टका नहीं रहता कि चक्षु आदि उक्त पांच इन्द्रियोंसे अतिरिक्त, हाथ पैर वगैरह, ज्ञानके हेतुभूत न होनेके कारण, इन्द्रिय शब्दसे व्यवहृत नहीं किये जा सकते हैं। अतः चक्षु वगैरह पाच ही इन्द्रियां समझनी चाहियें। मन तो इन्द्रियोंसे अतिरिक्त, अनिन्द्रिय वा नोइन्द्रिय कहाता है। और यह चक्षुकी तरह अप्राप्यकारी है।

इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके मुख्य चार भेद हैं -

अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ और धारणा ४।

इनमें प्रथम अवग्रह-इन्द्रिय और अर्थके संबन्धसे पैदा हुए सत्ता मात्रके आलोचन अनतर, मनुष्यत्वादि-अवान्तर सा-

मान्य रूपसे उत्पन्न हुए वस्तुके ज्ञानको कहते हैं ।

ईहा—अवग्रहके ग्रहण किये हुए मनुष्यत्वादि जातिमें विशेष रूपस पर्यालोचन करनेका नाम है, जैसे 'यह मनुष्य, बगाली होना चाहिये, अमुक अमुक चिन्होंसे पजाबी नहीं मालूम पडता'।

अवाय—ईहाके विषयको मजबूत करनेवाला ज्ञान है। जैसे 'यह बगाली ही है'।

धारणा—बहुत दृढ अवस्थामें आये हुए अवाय ही को कहते है । जो कि कालान्तरमें उस विषयके स्मरण होनेमें हेतु-भूत बनता है ।

क्रमसे उत्पन्न होते हुए इन ज्ञानोंकी उत्पत्ति, किसी वक्त क्रममें जो नहीं मालूम पडती है, सो सौ कमलके पत्रोंके छिदनेकी तरह शीघ्रताके जरीयेसे समझनी चाहिये ।

यह प्रथम साव्यवहारिक प्रत्यक्ष बता दिया, अब दूसरे पारमार्थिक प्रत्यक्षके ऊपर ध्यान देना चाहिये—

आत्मा मात्र है निमित्त जिसकी उत्पत्तिमें, उस ज्ञानको पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं । इसके तीन भेद हैं-अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान ।

अवधिज्ञान-अपने आवरणका क्षयोपशम होनेपर होता है । यह ज्ञान, रूपी द्रव्योंको ग्रहण करता है । इसके दो भेद हैं-भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जिस अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भव यानी गति कारण है, वह भवप्रत्यय। यह ज्ञान स्वर्ग और नरकमें गये हुए जीवोंको मिल जाता है। और गुणप्रत्यय, आवरणके क्षयोपशमको पैदा करने वाले गुणों द्वारा, पुण्यात्मा मनुष्यों और तिर्यंचोंको मिलता है ।

अपने आवरणके क्षयोपशमद्वारा पैदा होता हुआ मनः-पर्यायज्ञान, मनुष्य क्षेत्रमें रहे हुए संज्ञी जीवोंके ग्रहण किये मन द्रव्य पर्यायको प्रकाश करता है ।

केवलज्ञान, ज्ञानावरण–दर्शनावरण–मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घाति कर्मोंके क्षय होने पर पैदा होता है । यह ज्ञान ही मनुष्यको सर्वज्ञ बनाता है । यह ज्ञान ही समस्त लोकालोकके त्रैकालिक द्रव्य पर्यायोंको आत्मामें सुस्पष्ट खड़ा कर देता है । यह ज्ञान, सिवाय मनुष्य, दूसरे किसीको पैदा नहीं हो सकता । यह ज्ञान, पुरुष ही को प्राप्त होता है , यह बात नहीं है, किंतु स्त्री जन भी इसे प्राप्त कर सकते हैं । यह ज्ञान पानेपर देहधारी मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। यह जीवन्मुक्त दो प्रकारका है । एक तीर्थंकरदेव, दूसरे सामान्य केवली । इनमें, प्रथम तीर्थंकरदेवका परिचय देते हैं—

जिन्होंने तीसरे भवमें प्रबल पुण्यसे तीर्थंकर नाम कर्म बांधकर, वहांसे स्वर्गमें आकर स्वर्गकी अद्भुत संपदा भोगकर मनुष्य लोगमें उच्चतम राजेन्द्र कुलमें, नरक जीवोंके ऊपर भी सुखामृत वर्षाते हुए, अवधिज्ञान सहित जन्म लिया । और अपना सिंहासन कंपनेसे परमात्माका जन्म हुआ समझकर इन्द्रोंने नीचे आके मेरुपर्वत पर जिनको ले जाके बड़ी भक्तिसे जन्म महोत्सव किया ।

इस प्रकार जन्म अवस्था ही से किंकरभूत सुरासुरोंसे सेवाते हुए जिन्होंने, स्वत. प्राप्त हुई साम्राज्य लक्ष्मीको तृणके बराबर छोड़, और सर्व प्रकार राग द्वेषसे रहित हो कर, शुक्ल ध्यानरूपी प्रबल अग्निसे समस्त घाति कर्म क्षय कर दिये, और समस्त वस्तुओंका प्रकाश करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त

किया । तथा इन्द्रोंके बनाये हुए अति अद्भुत समवसरणमें बैठ कर, पातीस गुण युक्त मधुर वाणीसे उपदेशद्वारा जगत्‌का अज्ञान तिमिर उड़ा दिया । वे शरीरधारी, साक्षात् जगन्नाथ जगदीश पुरुषोत्तम महेश्वर परमेश्वर, तीर्थंकरदेव समझने चाहियें

वे ही धर्मके स्थापक-प्रादुष्कारक-प्रकाशक कहे जा सकते हैं । और साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ (तीर्थ) की स्थापना करनेसे तीर्थंकर कहे जाते हैं ।

इन्हींके चरणकमलोंकी सेवासे जिन पुण्यात्माओंके घाति कर्म नष्ट हो गये हैं, और जो केवलज्ञान पा चुके हैं, वे सामान्य केवली समझने चाहियें ।

ये दो प्रकारके जीवन्मुक्त सर्वज्ञ देव, अपनी आयु पूर्ण होने पर, सद् ब्रह्मानन्द-मोक्षमें लीन हो जाते हैं । इसीसे यह भी बात प्रकट हो जाती है कि ईश्वर, सृष्टि रचना करनेमें फँसता नहीं है । रागद्वेष क्षय हुए बिदुन ईश्वरपना जब नहीं मिलता है, तो फिर रागद्वेष रहित ईश्वरसे सृष्टि निर्माणकी सभावना कैसे की जाय ? ।

अत एव किसी भी कारणसे, ससारमें ईश्वरका अवतार मानना भी न्याय विरुद्ध है ।

'समस्त कर्मोंका क्षय हुए बिदुन ईश्वरत्व नहीं हो सकता' यह सिद्धान्त सभी आस्तिकोंके लिये अगर माननीय है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो कि निर्लेप ईश्वरका भी, विना ही कर्म, शरीर धारण करना और ससारमें आना स्वीकारेगा ? । विना ही कर्म, ससार योनिमें आना अगर मजूर हो, तो मुक्त जीव भी, विना ही कर्म, संसार योनिमें क्यों नहीं आवेंगे ? ।

जब ऐसी ही बात हुई तो सोचो ! मुक्ति चीज कहां रही ? । नित्य, आत्यंतिक दुःख क्षयरूप मुक्ति पाकरके भी यदि संसारमें गिरना हुआ, तो नित्य, आत्यंतिक दुःख क्षय कहां रहा ? ।

जैसे वन्ध्या स्त्रीको, पुत्र पैदा होनेके कारण न होनेसे पुत्र पैदा नहीं हो सकता, वैसे ईश्वरको संसारमें अवतार लेनेका कारण-कर्म बिलकुल न रहनेसे क्योंकर ईश्वर संसारी बन सकता है ? । जहां बीज ही समूल जल गया, वहां अङ्कुर पैदा होनेकी बात ही क्या करनी ? । ईश्वरको भी कर्मरूपी बीज, मूलसे, अगर दग्ध ही होगया है, तो फिर उसका संसारमें आना कौन बुद्धिमान् स्वीकारेगा ? ।

इसीसे यह भी बात खुल जाती है कि परमेश्वर एक ही नित्यमुक्त नहीं है, बल्कि विशिष्टतम आत्मबल जागरित होनेपर अनेक भी ईश्वर हो सकते हैं ।

जब कर्म क्षयद्वारा ईश्वरपना प्राप्त होना न्याय्य है, तो फिर ईश्वरको नित्यमुक्त कैसे कहा जाय ? मुक्त शब्दहीका यह रहस्य है कि 'कर्मोंसे बिलकुल छुट गया,' फिर भी मुक्त शब्दके साथ जो नित्य शब्द लगाना है, सो माता शब्दके साथ, मानो ! वंध्या शब्द ही लगाना है । वास्तवमें वही मुक्त हो सकता है, जोकि पहले कभी न कभी बन्धनसे बद्ध रहा हो । अगर यह बात न मानी जाय, तो आकाशको भी, कहनेवाले लोग नित्यमुक्त क्यों नहीं कहेंगे ? ।

जैन सिद्धान्तके अनुसार इस भरतक्षेत्रमें प्रति उत्सर्पिणी और प्रति अवसर्पिणी काल, तीर्थंकरदेव चौईस चौईस होते हैं, और सामान्य केवलियोंका तो कोई नियम नहीं, कोटीसे भी अधिक अधिक होते है । मगर ईश्वर शब्दका व्यवहार

तीर्थंकरदेवोंके ऊपर समझना चाहिय ॥

इस प्रकार साव्यवहारिक और पारमार्थिक, ये प्रत्यक्षके दो भेद बता दिये । अब दूसरे परोक्ष-प्रमाणके ऊपर आना चाहिये—

प्रत्यक्ष प्रमाणसे विपरीत रूपवाला (उल्टा) सम्यग्ज्ञान, परोक्ष प्रमाण कहाता है। यह परोक्ष प्रमाण, पाच भेदोंमें विभक्त है ।

तथाहि—

स्मरण १ प्रत्यभिज्ञान २ तर्क ३ अनुमान ४ और आगम ५ ।

जिस वस्तुका अनुभव हो चुका है, उस वस्तुका सस्कार जागनेसे स्मरण पैदा होता है । जैसे 'वह महर्षि' । यह 'वह' आकार, स्मरणमें होता है । इसे कोई लोग अप्रमाण कहते हैं । मगर अप्रमाण होनेकी कोई मजबूत सबूत नहीं दिखाई देती, अनुमानसे गृहीत हुए आगका प्रत्यक्षज्ञान, क्या गृहीत ग्राही नहीं है ? तिस पर भी क्या अप्रमाण है ?, जब बहुतसे गृहीत ग्राही ज्ञान, प्रमाण रूपसे स्पष्ट मालूम पडते हैं, तो फिर स्मरणके ऊपर इतना अपरितोष क्यों ?, जिससे गृहीत ग्राहित्वका दूषण लगा कर उसकी प्रमाणता तोड दी जाय । "विषय नहीं रहते पर भी जब स्मरण पैदा होता है, तो फिर वह प्रमाण कैसे कहा जाय ?", यह भी शका करनी ठीक नहीं है, क्यों कि 'अमुक अमुक हेतुसे, इस जगह वृष्टि हुई है' ऐसा भूतपूर्व वस्तुका अनुमान नैयायिक विद्वानोंने स्वीकारा है । क्या इस अनुमानके उदय होनेके वक्त, वृष्टि क्रिया मौजूद है ? हर्गिज नहीं, तो भी यह अनुमान, जैसे प्रमाण माना जाता है,

वैसे ही स्मरणने क्या अपराध किया ? जिससे वह प्रमाण न माना जाय। अतः प्रमाण और अप्रमाण होनेका मूल बीज, क्रमसे अविसंवादि और विसवादि पना मानना चाहिये।

दूसरा प्रत्यभिज्ञान उसे कहते है, जो कि अनुभव और स्मरण इन दोनोंसे पैदा होता है। इसका आकार-'गायके सदृश गवय है' 'वही यह महर्षि है' । उपमानप्रमाण भी इसीमें अन्तर्गत होता है।

इसे प्रमाण नहीं माननेवाले बौद्धोंको 'वही यह है' ऐसा अतीत व वर्तमानकाल संकलित एकपनेका अवधारण, किस प्रमाणसे होगा ? अत प्रत्यभिज्ञान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये, क्यों कि विषयके भेद निबन्धन प्रमाणका भेद, माना जाता है, इस लिये उक्त एकपनेका निश्चय सब प्रमाणोंसे हटता हुआ प्रत्यभिज्ञानका शरण लेता है।

तर्क प्रमाण, व्याप्तिका निश्चय कराता है। सिवाय तर्के, कौन किससे, आग और धूमका परस्पर अविनाभावरूप सबंध मालूम कर सकता है ? । दृष्टान्त मात्रको देखनेसे व्याप्ति निश्चित नहीं हो सकती, दश वीस जगह दोनों चीजोंको सहचर रूपसे देखनेसे उनकी व्याप्तिका निश्चय नहीं हो सकता, अन्यथा आगभी धूमकी अविनाभाविनी क्यों नहीं बनेगी?, क्या ऐसेबहुत स्थल नहीं पा सकते है, जहा कि–धूमके साथ अग्निका रहना ? । परन्तु सहचरता मात्रसे व्याप्तिका विश्वास नहीं होता, किंतु तर्कसे । तर्क यही अपना प्रभाव बताता है कि–धूम अगर अग्निका अविनाभावी नहीं होगा, तो अग्निका कार्यभी नहीं बनेगा। धूमार्थी पुरुष आगको यादभी नहीं करेगा, इसीसे धूम और अग्निका परस्पर कार्य कारणभाव भी उड जायगा।

इस लिये आगको छोड धूमकी अवस्थाकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। इस प्रकार विपक्ष बाधक प्रमाण जबतक नहीं मिलता तब तक व्याप्ति (अविनाभाव) निश्चय मार्गमें नहीं आ सकती। बस यही तर्क प्रमाणकी जरूरत। इतना ही क्यों ? शब्द और अर्थके वाच्य वाचकभाव सम्बन्धके निश्चय करनेमेंभी इसी तर्ककी बहादुरी है।

अब चौथा अनुमान प्रमाण–

साधनसे साध्यके सम्यग्ज्ञान होनेका नाम अनुमान है। साधन वही कहलाता है जो कि–साध्यको छोड कभी किसी जगह न रहे; बस यही तो अविनाभाव, साधनका अद्वितीय-असाधारण लक्षण है। इससे, साधनके तीन या पांच लक्षण मानने वाले लोग खंडित हो जाते हैं।

तथाहि–

बौद्धोंने, साधनके पक्षधर्मत्व–सपक्षसत्त्व और विपक्षसे व्यावृत्ति, ये तीन लक्षण माने है । और नैयायिकोंने, उक्त तीन लक्षण, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पांच लक्षण माने हैं। मगर यह बात ठीक नहीं मालूम पडती। एकही अविनाभाव लक्षण, साधनके लिये जब काफी है, तो तीन या पांच लक्षणोंकी क्या जरूरत ?। ऐसा कोई सच्चा हेतु नहीं मिलसकता, जो कि–अविनाभाव लक्षणसे उदासीन रहता हो। एवं ऐसा कोई हेत्वाभासभी नहीं मिल सकता, जो कि अविनाभाव लक्षणका ठीक ठीक स्पर्श करता

हो। जब यही बात है तो फिर किस कारणसे हेतुके तीन या पांच लक्षण माने जायँ।

साधनसे जिस साध्यका निर्णय किया जाता है, वह साध्य, तीन विशेषणोंसे विशिष्ट होना चाहिये—

अबाधितत्व १ अभिमतत्व २ और अनिश्चितत्व ३। अबाधितत्व यानी किसी प्रकारका बाध नहीं, होना चाहिये। अगर अबाधितत्व विशेषण न दिया जाय तो 'आग अनुष्ण है' यह भी साध्य कहावेगा, और यह साध्य है नहीं, क्यों कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे, अग्नि जब उष्ण मालूम पडती है, तो प्रत्यक्ष से अनुष्णत्वका बाध ही समझा जाता है।

अभिमतत्व-यानी साध्य, स्वसिद्धान्तके अनुकूल होना चाहिये।

अनिश्चितत्व-यानी साध्यका निश्चय पहले नहीं होना चाहिये। जो वस्तु निश्चित हो चुकी है, वह साध्य कैसे हो सकती ?। अप्रतीत संदिग्ध, और भ्रम विषय ही वस्तुका निर्णय किया जाता है।

इस प्रकार अनुमान दो प्रकारका है-एक स्वार्थानुमान, दूसरा परार्थ अनुमान। स्वार्थानुमान वह है-जो, खुद धूम वगैरहको देखकर अपनी आत्मामें अग्नि वगैरहका अनुमान किया जाता है।

परार्थानुमान वह है-जो कि दूसरेको जनानेके लिये 'यह पहाड आगवाला है, क्यों कि-पहाडके ऊपर अविच्छिन्न धूमकी शिखा दिखाई देती है' इत्यादि रूप वाक्य प्रणाली करनेमें आती है।

जिस जगह किसी वस्तुका अनुमान करना हो, वह स्थल, प्रमाण या विकल्प अथवा उन दोनोंसे निश्चित होना चाहिये । तबही उस जगह, किसी चीजका अनुमान करना मुनासिब होता है ।

उनमें, प्रथम प्रमाणसे प्रसिद्ध स्थल-पहाड वगैरह है। जिस पहाडमें आगका अनुमान किया जाता है, वह पहाड, प्रत्यक्ष दिखाता है, इसलिये प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध समझना चाहिये ।

विकल्पसे प्रसिद्ध स्थलका उदाहरण-'सर्वज्ञ है' इत्यादि। यहां सर्वज्ञ, अनुमान करनेके पहले यद्यपि निश्चित नहीं है, तौभी विकल्प यानी मानस अध्यवसायसे सर्वज्ञका अभिमान करके उसमे अस्तित्व साधा जाता है ।

प्रमाण और विकल्प इन दोनोंसे प्रसिद्ध स्थलका उदाहरण, 'शब्द अनित्य है' इत्यादि । यहॉ पक्ष किये हुए शब्द सभी नही पाये जाते है । अत जो शब्द पाये जाते है, वे प्रमाणसे प्रसिद्ध, और जो नहीं पाये जाते हैं, वे विकल्पसे प्रसिद्ध समझने चाहियें । एव च सामान्यरूपसे पक्ष किया हुआ शब्द, प्रमाण विकल्प प्रसिद्ध कहलाता है ।

मदबुद्धियोंको समझानेके लिये अनुमानके अगभूत पाच अवयव माने गये हैं-

प्रतिज्ञा १ हेतु २ उदाहरण ३ उपनय ४ और निगमन ५।

उनमें, प्रतिज्ञा-जिस जगह जो वस्तु साधी जाती है, उस वस्तु सहित उस जगहके प्रयोग करनेका नाम है। जैसे 'पहाड आगवाला है'।

हेतु-साध्यको सिद्ध करनेवाले साधनके प्रयोगका नाम है। जैसे कि-पहाडमें आग साधते वक्त 'धुम'।

उदाहरण-साध्य और हेतुका अविनाभाव सवन्ध, जहा प्रकाशित होता है, उस पाकस्थल आदि दृष्टान्तके शब्द प्रयोग को कहते हैं।

उपनय-पहाड वगैरहमें धूम वगैरह साधनके उपसंहार करनेका नाम है।

निगमन-पहाड वगैरहमें आग वगैरह साध्यके उपसंहार करनेका नाम है।

ये पाच अवयव, अल्पमतिओंके लिये प्रयोगमें लाये जाते हैं। बुद्धिमानोंके लिये तो प्रतिज्ञा और हेतु, ये दोही अवयव काफी हैं।

हेतुका लक्षण अविनाभाव, जिस हेतुमें न हो वह, हेत्वाभास समझना चाहिये। वह हेत्वाभास, तीन प्रकारका है—असिद्ध-विरुद्ध और अनैकान्तिक।

उनमे असिद्ध वह है-जिसका स्वरूप,प्रतीतिमें न आसक्ता हो। जैसे 'शब्द अनित्य है, चाक्षुपत्व हेतुसे'। यहा चाक्षुपत्व हेतु असिद्ध है।

विरुद्ध वह है, जोकि साध्यके साथ कभी रहताही न हो। जैसे यह घोडा है, शृंग होनेसे, यहा सींग किसी घोडेमें नहीं, रहनेसे विरुद्ध कहाता है।

अनैकान्तिक वह है, जिसमें साध्यका अविनाभाव न ठहरा हो। जैसे 'शब्द नित्य है, वाच्य होनेसे'। यहाँ वाच्यत्वहेतु, नित्य और नित्य सभी जगहपर रहता है, इसलिये अनैकान्तिक है।

इन तीन हेत्वाभासोंसे अलग कोई हेत्वाभास नहीं बचता ।

यद्यपि नैयायिकोंने कालातीत और प्रकरणसम ये, दो हेत्वाभास, ज्यादह माने हैं, मगर वस्तुदृष्ट्या तीन हेत्वाभासोंसे कोई हेत्वाभास अलग नहीं पड सकता ।

तथाहि—

कालातीत, उसे कहते है, जहा कि साध्य, प्रत्यक्ष व आगम बाधसे बाधित रहा हो । जैसे आगमें अनुष्णत्व साधते उक्त द्रव्यत्व हेतु । यहा पर अग्निमें उष्णत्व, प्रत्यक्ष प्रमाणसे मालूम पडता है । इस लिये उष्णत्वका अभाव, प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित कहा जाता है । ऐसे बाधित स्थलके अनन्तर प्रयुक्त किया हुआ हेतु, कालातीत कहा जाता है । अब समझना चाहिये कि ऐसी जगहमें साध्यके अबाधितत्व वगैरह तीन लक्षण, साध्यमें नहीं आनेसे पहिले साध्य ही दुष्ट कहना चाहिये । द्रव्यत्व हेतु तो साध्यके साथ केवल अविनाभाव सम्बन्ध न रखनेके कारण, अनैकान्तिक-हेत्वाभासमें गिर पडता है ।

प्रकरणसम तो हेत्वाभास ही नहीं बन सकता । अगर बने, तो भी उक्त तीनसे अलग नहीं रह सकता ।

जैनदिगंबर-विद्वानोंका माना हुआ अकिंचित्कर-हेत्वाभास भी साध्यके दोषोंसे ही गतार्थ हो जाता है ।

तथाहि—

अकिंचित्कर हेतु, अप्रयोजकको कहा है । वह दो प्रकारका है-एक सिद्धसाधन, दूसरा बाधितविषय । उनमें सिद्धसाधन, उसे कहते हैं कि जिसका साध्य निश्चित हो । जैसे शब्दत्व हेतुसे शब्दमें श्रावणत्व साधा जाय । यहां पर शब्दमें

श्रावणत्व, आबालगोपाल प्रसिद्ध है, अतः इसके साधनेके लिये लगाया हुआ शब्दत्व हेतु, सिद्धसाधन है ।

अब यहा थोडासा ध्यान दीजिये !—

शब्दमें श्रावणत्व जो साध्य किया है, वह, सिद्ध यानी निश्चित होनेसे, उक्त अनिश्चितत्व वगैरह साध्यके तीन लक्षण करके युक्त न होनेके कारण, ठीक ठीक साध्य ही नहीं बन सकता । अतः यहा साध्यका दोष कहना चाहिये। हेतुने क्या अपराध किया है कि उसे दुष्ट कहा जाय ? । साध्यके दोषसे हेतुको दुष्ट कहना, यह तो बडा अन्याय है । क्योंकि दूसरेके दोषसे दूसरा दुष्ट नहीं हो सकता । अन्यथा बडी आपत्ति उठानी पडेगी । इस लिये ऐसी जगहमें साध्य ही दुष्ट होता है । हेतु तो साध्यके साथ अविनाभाव संबंध रखनेके कारण सच्चा ही रहता है ।

अब रहा दूसरा बाधित विषय—वह भी कालातीतके बराबर ही समझना चाहिये । विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध वगैरह हेत्वाभास, असिद्धमें दाखिल करने चाहियें ।

आश्रयासिद्ध और व्यधिकरणासिद्ध, ये दो तो, हेत्वाभास ही न बन सकते । क्योंकि जिस जगह पर कोई भी चीज साधनी है, वह स्थल, विकल्पसे भी सिद्ध होना जब न्याय्य है, तो फिर 'सर्वज्ञ है' ऐसी जगहमें हेतुको आश्रयासिद्ध कैसे कहा जाय ? । अन्यथा चतुरंगी महासभामें किसीके किये हुए 'खर विषाण है ? या नहीं ??' इस प्रश्नके ऊपर प्रतिवादी क्या उत्तर

इन तीन हेत्वाभासोंसे अलग कोई हेत्वाभास नहीं बचता ।

यद्यपि नैयायिकोंने कालातीत और प्रकरणसम ये, दो हेत्वाभास, ज्यादह माने हैं, मगर वस्तुदृष्टया तीन हेत्वाभासोंसे कोई हेत्वाभास अलग नहीं पड सकता ।

तथाहि—

कालातीत, उसे कहते हैं, जहा कि साध्य, प्रत्यक्ष व आगम-बाधसे बाधित रहा हो । जैसे आगमें अनुष्णत्व साधते वक्त द्रव्यत्व हेतु । यहा पर अग्निमें उष्णत्व, प्रत्यक्ष प्रमाणसे मालूम पडता है । इस लिये उष्णत्वका अभाव, प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित कहा जाता है । ऐसे बाधित स्थलके अनन्तर प्रयुक्त किया हुआ हेतु, कालातीत कहा जाता है । अब समझना चाहिये कि ऐसी जगहमें साध्यके अबाधितत्व वगैरह तीन लक्षण, साध्यमें नहीं आनेसे पहिले साध्य ही दुष्ट कहना चाहियें । द्रव्यत्व हेतु तो साध्यके साथ केवल अविनाभाव सम्बन्ध न रखनेके कारण, अ-नैकान्तिक हेत्वाभासमें गिर पडता है ।

प्रकरणसम तो हेत्वाभास ही नहीं बन सकता । अगर बने, तो भी उक्त तीनसे अलग नहीं रह सकता ।

जैनदिगम्बर-विद्वानोंका माना हुआ अकिंचित्कर-हेत्वाभास भी साध्यके दोषोंसे ही गतार्थ हो जाता है ।

तथाहि—

अकिंचित्कर हेतु, अप्रयोजकको कहा है । वह दो प्रकारका है-एक सिद्धसाधन, दूसरा बाधितविषय । उनमें सिद्ध-साधन, उसे कहते हैं कि जिसका साध्य निश्चित हो । जैसे श्रवणत्व हेतुसे शब्दमें श्रावणत्व साधा जाय । यहा पर शब्दमें

श्रावणत्व, आबालगोपाल प्रसिद्ध है, अतः इसके साधनेके लिये लगाया हुआ शब्दत्व हेतु, सिद्धसाधन है।

अब यहां थोडासा ध्यान दीजिये !—

शब्दमें श्रावणत्व जो साध्य किया है, वह, सिद्ध यानी निश्चित होनेसे, उक्त अनिश्चितत्व वगैरह साध्यके तीन लक्षण करके युक्त न होनेके कारण, ठीक ठीक साध्य ही नहीं बन सकता। अतः यहां साध्यका दोष कहना चाहिये। हेतुने क्या अपराध किया है कि उसे दुष्ट कहा जाय?। साध्यके दोषसे हेतुको दुष्ट कहना, यह तो बडा अन्याय है। क्योंकि दूसरेके दोषसे दूसरा दुष्ट नहीं हो सकता। अन्यथा बडी आपत्ति उठानी पड़ेगी। इस लिये ऐसी जगहमें साध्य ही दुष्ट होता है। हेतु तो साध्यके साथ अविनाभाव संबंध रखनेके कारण सच्चा ही रहता है।

अब रहा दूसरा बाधित विषय—वह भी कालातीतके बराबर ही समझना चाहिये। विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध वगैरह हेत्वाभास, असिद्धमें दाखिल करने चाहियें।

आश्रयासिद्ध और व्यधिकरणासिद्ध, ये दो तो, हेत्वाभास ही न बन सकते। क्योंकि जिस जगह पर कोई भी चीज साधनी है, वह स्थल, विकल्पसे भी सिद्ध होना जब न्याय्य है, तो फिर 'सर्वज्ञ है' ऐसी जगहमें हेतुको आश्रयासिद्ध कैसे कहा जाय?। अन्यथा चतुरंगी महासभामें किसीके किये हुए 'खर विषाण है? या नहीं?' इस प्रश्नके ऊपर प्रतिवादी क्या उत्तर

देगा ? । क्या उस वक्त मौन करेगा ? उस वक्त मौन करना बिलकुल उचित नहीं कहा जा सकता, अगर अप्रस्तुत-असंबद्ध बोलेगा, तो उसी वक्त, वह सभासे बाहर निकाला जायगा, अगर च प्रस्तुत संबद्ध बोलेगा तो समझो ! कि सिवाय विकल्प सिद्धिके अवलम्बन, दूसरी क्या गति होगी ?, अत विकल्प सिद्ध-धर्मीको मानना न्याय प्राप्त है । और इसीसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नहीं ठहर सकता । व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास भी हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षसे व्यावृत्ति, इन तीन लक्षणोंका तिरस्कार करनेसे तिरस्कृत होजाता है । अर्थात् यह कोई नियम नहीं है कि-पक्षका धर्म ही हेतु बन सकता है। अगर ऐसा नियम होता तो बतलाईए ! जलके चन्द्रसे आकाशमें चन्द्रका अनुमान कैसे बनता ?, जलके चन्द्रका अधिकरण क्या आकाश है? हर्गिज नहीं । तब भी जलके चन्द्रसे आकाशके चन्द्रका अनुमान होना जब सभीके लिये मंजूर है, तो फिर 'पक्षधर्म ही हेतु हो सकता है' यह कैसे कहा जाय ? इसीसे व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास उड जाता है । क्योंकि व्याधिकरणासिद्धका यही मतलब है कि पक्षमें साध्यके साथ न रहनेवाला हेतु, झूठा हेतु है । मगर यह बात उक्त युक्तिसे नहीं ठहर सकती । वरना ' एक मुहूर्तके बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि इस वक्त कृत्तिका-नक्षत्रका उदय होगया है ' ऐसा अनुमान कैसे बन सकेगा, और माता-पिताओंके ब्राह्मणत्वसे उनके पुत्रमें ब्राह्मणत्वका परिचय कैसे हो सकेगा ? । इस लिये पक्ष धर्म हो, या न हो, अविनाभाव अगर रह गया तो समझ लो ! कि वह सच्चा हेतु है । अत एव " यह प्रासाद श्वेत है, क्योंकि कौआ काला है" ऐसा अनुमान हो ही नहीं सकता । नहीं

होनेमें, 'हेतु, पक्षमें नहीं रहा है' यह कारण नहीं है, किंतु काककी कृष्णता, प्रासादकी शुक्लताके साथ अविनाभाव संबन्ध नहीं रखती है, यही कारण है। अतः व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास नहीं बन सकता है।

एव अनुमानोपयोगी दृष्टान्त भी अगर अपने लक्षणसे रहित हो, तो वह दृष्टान्ताभास समझना चाहिये।

इस प्रकार अनुमानप्रमाणका विवेचन हो गया। अब आगमप्रमाणके ऊपर आईये!—

आगम—आप्त (यथार्थ ज्ञानानुसार उपदेशक) पुरुषके वचनसें पैदा हुए अर्थ ज्ञानको कहते हैं। उपचारसे आप्त पुरुषका वचन भी आगमप्रमाण हो सकता है। वचन क्या चीज है? वर्ण–पद और वाक्य स्वरूप है। उनमें, अकार आदि वर्ण कहाते हैं। और परस्पर सापेक्ष वर्णोंका मेल, पद कहाता है। एव परस्पर सापेक्ष पदोंका मेल, वाक्य कहाता है। यह शब्द पौद्गलिक है, न कि आकाशका गुण, क्योंकि आकाशका गुण माननेपर, शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जिसका आधार अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्ष होना न्याय विरुद्ध है, वरना परमाणुके गुणोंका भी प्रत्यक्ष हो जायगा। अत एव आकाशके और गुणोंका प्रत्यक्ष, नैयायिकोंने नहीं माना है। जिस हेतुसे आकाशके और गुणों और परमाणुके गुणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह हेतु आकाशका गुण मानने पर शब्दके साथ क्या संबन्ध नहीं रखता है, जिससे शब्दका प्रत्यक्ष हो सके? । अत शब्दको पौद्गलिक मानना न्याय प्राप्त है।

शब्द, अर्थके बोध करनेमें स्वाभाविक शक्ति रखता हुआ

भी संकेतकी अपेक्षा करता है । किंतु शब्दकी यथार्थता और अयथार्थता, क्रमसे पुरुषके गुण और दोषकी अपेक्षा रखती है ।

यह शब्द, अपने विषयमें प्रवर्त्तता हुआ विधि व निषेध-से सप्तभंगीका अनुसरण करता है । सप्तभंगीका स्वरूप क्या है ? इस गभीर विषयके निरूपण करनेकी ताकत यद्यपि इस लघु निबंधमें नहीं है, तो भी स्थूलरूपसे सप्तभंगी बता देते हैं—

एक वस्तुमें एक एक धर्मका प्रश्न होने पर, बिना विरोध, अलग अलग या समुचितरूपसे विधि और निषेधकी कल्पना करके 'स्यात्'शब्द युक्त सात प्रकार वचन रचना करनी यही सप्तभंगी है ।

देखिये ! सप्तभंगी(सात–भंग)—

'स्यादस्त्येव घटः' १ 'स्यान्नास्त्येव घटः' २

'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट.' ३

'स्यादवक्तव्यएव घट ' ४

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव घट ५

'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घट ' ६

'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः' ७॥

अर्थ—

घट (वस्तुमात्र) अपने द्रव्य-क्षेत्र काल और भावसे सत् है १ । और पराये द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसे असत् है २ । वस्तु मात्र कथंचित् है और कथंचित् असत् है, यह क्रमसे विधि व निषेध कल्पना ३ । युगपत् (एक साथ) विधि निषेध कल्प-

नासे वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है ४। विधि कल्पना और युगपत् विधि व निषेध कल्पनासे वस्तु कथचित् सत् और कथंचित् अवक्तव्य है ५। निषेध कल्पना और युगपत् विधि व निषेध कल्पनासे वस्तु कथचित् असत् और कथंचित् अवक्तव्य है ६। क्रमसे विधि व निषेध कल्पना और युगपत् विधि निषेध कल्पनासे वस्तु कथचित् सत् कथचित् असत् और कथंचित् अवक्तव्य है ७।

यह सप्तभगी दो प्रकारकी है–एक सकलादेश रूप, और दूसरी विकलादेश रूप।

उनमें सकलादेश—प्रमाणके ग्रहण किये हुए अनत धर्म-स्वरूप वस्तुके, काल वगैरह करके अभेद वृत्तिकी मुख्यता अथवा अभेद वृत्तिके आक्षेप (उपचार) से, युगपत् प्रतिपादन करने वाले वाक्यको कहते हैं। और इससे विपरीत यानी नयके ग्रहण किये हुए वस्तु धर्मके, भेद वृत्ति अथवा भेदके उपचारसे क्रमश प्रतिपादन करने वाले वाक्यको, विकलादेश कहते हैं॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण बता दिये। अब प्रमाणका प्रयोजन समझना चाहिये—

सभी प्रमाणोंका साक्षात् प्रयोजन, अज्ञानका ध्वंस–विनाश है। और परपरा प्रयोजन, वस्तुके ग्रहण, परित्याग और उपेक्षा करनेकी बुद्धि पाना है। और केवलज्ञानका परंपरा प्रयोजन, माध्यस्थ्य–उदासीनता यानी सर्वत्र उपेक्षा है।

यह प्रयोजन प्रमाणके साथ न सर्वथा भिन्न है, न तो सर्वथा अभिन्न है, किंतु कथचित् भिन्नाभिन्न है। तब ही परस्पर प्रमाण व फलका व्यवहार बन सकता है॥

अब प्रमाणका विषय देखिये:-सामान्य और विशेष वगैरह अनेक धर्मात्मक वस्तु, प्रमाणका विषय है ।

नैयायिक वगैरह विद्वान् लोगोंके अभिप्रायसे सामान्य और विशेष, ये दो परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तुसे एकान्त भिन्न रहते हैं। मगर जैन शास्त्रकार, उन दोनोंको परस्पर सापेक्ष भाववाले और वस्तुके स्वरूप मानते हैं।

वह सामान्य दो प्रकारका है—एक तिर्यक् सामान्य, और दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य । उनमें प्रथम सामान्य-प्रतिव्यक्ति, समान परिणामको कहते हैं, जैसे गोत्व आदि। और ऊर्ध्वता सामान्य वह है, जो कि पूर्वापर पर्यायोंमें अनुगत रहता हो, जैसे कटक-कंकण वगैरह भिन्न भिन्न पर्यायोंमें चला आता सुवर्ण वगैरह ।

एवं विशेष भी दो प्रकारका है-गुण और पर्याय । उनमें सहभावी गुण, और क्रमभावी पर्याय समझना चाहिये ।

उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य, इन तीन रूपोंसे युक्त ही होना वस्तुमात्रका लक्षण है । और यही प्रमाणका विषय है । सभी वस्तुओंमें जब नया पर्याय पैदा होता है, तब पूर्व पर्याय चला जाता है, तो यही उत्पाद और व्यय हुआ समझिये । और सभी पर्यायोंमें बराबर अनुगत (साथ ही चली आती) चीज कभी नष्ट न होनेके कारण ध्रुव कहाती है, और इसीसे वस्तुमें ध्रौव्य भी पाया जाता है । जैसे कटकको तोडकर जब कंकण बनाया, तो पहला कटक परिणाम चला गया, और नया कंकण पर्याय पैदा हुआ , मगर उन दोनों पूर्व उत्तर (कटक-कंकण) पर्यायोंमें सुवर्ण तो वैसेका वैसा ही रहता है । बस ! इसी दृष्टा-

न्तसे वस्तुमात्रमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, समझ लेने चाहियें । और यही तो जैनियोंका माना हुआ स्याद्वाद है । क्योंकि जैनशास्त्रकार समस्त वस्तुओंमें, सत्त्व असत्त्व, नित्यत्व अनित्यत्व, वगैरह सापेक्ष रूपसे, अनन्त धर्म मानते है । जैसे एक ही पुरुषमें, उसके पिता और पुत्रकी अपेक्षासे पुत्रत्व और पितृत्व रहते हैं, एवं और भी अपेक्षाओंसे मातुलत्व-भागिनेयत्व वगैरह अनेक धर्म पाये जाते हैं। वैसे भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे, एकही वस्तुमें सत्त्व असत्त्व वगैरह अनंत धर्म, अगर माने जायँ, तो कौन, क्या दोष बता सकेगा ? ।

समझना चाहिये कि क्या वस्तु, केवल भाव रूप हो सकती है ? हर्गिज नहीं । अगर केवलभावरूप ही वस्तु मानी जाय, तो एक ही घट चीज, पटरूप, हस्तीरूप, अश्वरूप क्यों न हो जायगी ? । सर्व प्रकारसे भावपन माननेमें एकही वस्तुके सारा विश्वरूप होनेका दोष कभी शान्त न होगा । इसलिये सब वस्तुओंको, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-और भाव रूपसे, सत्, और पराये द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव रूपसे, असत् मानना चाहिये । जैसे कि द्रव्यसे घट, पार्थिव रूपसे है, मगर जल रूपसे नहीं है। क्षेत्रसे अजमेरमें बना हुआ घट, अजमेरका कहाता है, न कि जोधपुरका । कालसे हेमतऋतुमें बना हुआ घट, हैमन्तिक कहाता है, न कि वासन्तिक। भावसे शुक्ल घट, शुक्ल है, न कि काला ।

इससे, 'सत्त्व-असत्त्व' ये दो धर्म प्रत्येक वस्तुमें एक ही समयमें हमेशा रहा करते हैं' यह बता दिया, और प्रतिक्षण पलटती रहती (पूर्व परिणामको छोड, दूसरे परिणाममें आती

रहती) समस्त वस्तुओंमें नित्यत्व और अनित्यत्व के एक ही साथ रहनेका अनुभव तो पहले बता ही दिया है। एवरीत्या और भी धर्मोंके रहनेका अनुभव प्रकार, स्वप्रज्ञासे परिचय कर लेना चाहिये।

इस विषयमें दूसरे विद्वानोंका यह कहना होता है कि 'स्याद्वाद संशय रूप बन जाता है, क्योंकि एक ही वस्तुको सत् भी कहना और असत् भी कहना, यही संदेहकी मर्यादा है। जब तक, सत् और असत् इन दोनोंमेंसे एक (सत् या असत्) का निश्चय न होवे, तब तक, सत् असत् इन दोनों रूपसे एक वस्तुको समझना, यह सचा ज्ञान नहीं कहलाता। लेकिन यह कहना बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही चीजमें सत्त्व असत्त्व ये दोनों धर्म जब उक्त अनुभवसे प्रामाणिक है, तो फिर उन दोनोंको निश्चय रूपसे मानना, संदेह कैसे कहा जायगा ? । संदेह तो यही कहलाता है कि 'यह पुरुष होगा या वृक्ष ?' यहा न पुरुष पनका निश्चय है, न तो वृक्ष होनेका निश्चय है। इस लिये यह ज्ञान संशय कहा जा सकता है। मगर प्रकृतमें तो वस्तु सत् भी निश्चित है, और असत् भी निश्चित है, अत सत् असत् इन दोनोंका ज्ञान, सम्यक् ज्ञान क्यों नहीं ?। अन्यथा एक ही पुरुषमें भिन्न भिन्न अपेक्षा द्वारा पितृत्व पुत्रत्व वगैरह धर्म कैसे माने जायँगे। इन धर्मोंका मानना झूठा क्यों न कहा जायगा ? । अत अनुभवबलात् सिद्ध हुई बातको माननेमें किसी प्रकार दोष नहीं है ॥

खतम हो चुका प्रमाण विषयक वक्तव्य, अब नयके ऊपर नजर कीजिये !—

प्रमाणके ग्रहण किये हुए, अनन्त धर्मात्मक वस्तुके एक अंशको ग्रहण करने वाला और दूसरे अंशमें उदासीन रहने वाला, प्रमाता पुरुषका अभिप्राय विशेष, नय कहाता है।

इस लक्षणसे विपरीत, अर्थात् दूसरे अंशका प्रतिक्षेप करने वाला नय, दुर्नय–नयाभास कहाता है।

नय, संक्षेपसे दो प्रकारका है- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें, द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकारका है –नैगम-संग्रह-और व्यवहार। और पर्यायार्थिक नय चार प्रकारका है:–ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ और एवंभूत।

अब इन सातों नयोंका स्वरूप संक्षेपसे बताते हैं:–

नैगम-वस्तुमात्रको, सामान्य विशेष उभयात्मक मानता है,

संग्रह—सामान्यमात्रका आदर करता है।

व्यवहार–केवल विशेषका स्वीकार करता है।

ऋजुसूत्र—वर्त्तमान ही निज वस्तुका आदर करता है।

शब्द—अनेक पर्यायोंका वाच्यार्थ एक ही मानता है, जैसे घट-कुम्भ कलश वगैरह शब्दोंसे कहा हुआ अर्थ एक ही है।

समभिरूढ—पर्यायोंके भेदसे अर्थका भेद मानता है। जैसे घट-कुम्भ वगैरह भिन्न पर्याय शब्द, भिन्न अर्थको कहते हैं। पर्यायोंके भेद होने पर भी अगर अर्थका भेद न होगा, तो कट, घट, पट वगैरह भिन्न पर्यायोंसे भी अर्थका भेद कैसे होगा ?, ऐसा, इस नयका मानना है।

एवंभूत—'जिस शब्दकी, प्रवृत्ति निमित्त भूत जो क्रिया है, उस क्रियामें, जब उस शब्दका अभिधेय-अर्थ, परिणत होगा,

तव ही वह शब्द, उस अर्थका वाचक हो सकता है' ऐसा मानता है ।

जैसे—पुरदर शब्द, पुरके दारण करनेकी क्रियामें परिणत ही हुए इन्द्रको कह सकता है । इस नयके हिसावसे समस्त शब्द (जाति शब्द, गुण शब्द वगैरह) क्रिया शब्द है । अत क्रियामें परिणत ही स्वार्थको कहने वाले शब्दको, यह नय स्वीकारता है ॥

ये सव नय, यद्यपि पृथक् पृथक् विषय पर निर्भर हैं, अतः परस्पर विरोधी भी कहला सकते है, मगर जैनेन्द्र आगम रूपी महाराजाधिराजके आगे, युद्धमें हारे हुए विपक्षी राजाओंकी तरह परस्पर मिलझुलकर रहते ह । अतएव सापेक्ष रीतिसे सव नयोंका सत्कार करने वाला शास्त्र-प्रवचन-शासन, यथार्थ- निर्वाध-उपादेय कहाता है। और एक एक नयको पकड कर चले हुए मजहव, यथार्थ नहीं कहे जा सकते ।

तथाहि—

काणाद और गोतमीय शासन, नैगम नय, और सांख्य प्रवचन तथा अद्वैतमत, सग्रहनय, और बौद्धमत, ऋजुसूत्रनय, एव शब्दब्रह्मवाद, शब्दनयको पकड कर प्रकट हुआ है । और जैन प्रवचन सभी नयोंको समान दृष्टिसे देखता हुआ—सापेक्ष रीतिसे सत्कारता हुआ, सदा जयश्रीका स्थानही बना रहता है ॥

नयका भी वाक्य, प्रमाण की तरह, अपने विषयमें प्रवर्तता हुआ, विधि और निषेधसे सप्तभगीको अनुसरता है । इसका भी विचार, प्रमाणकी सप्तभगीके वरावर करना चाहिये, क्योंकि नयकी सप्तभगीमें भी, प्रति भग, 'स्यात्' पद, और एव

कार, प्रयुक्त किये जाते हैं। विशेष मात्र इतना ही है कि नय-सप्तभंगी, वस्तुके अंशका प्ररूपण करनेवाली होनेसे, विकलादेश कहलाती है। और संपूर्ण वस्तुके स्वरूपका निरूपण करनेवाली होनेसे, प्रमाण सप्तभंगी, सकलादेश कहाती है।

नयका फल भी प्रमाण की तरह है। विशेष इतना ही—प्रमाणका फल, संपूर्ण वस्तु विषयक है। और नयका फल, वस्तुके एकदेश विषयक है॥

हो गया प्रमाण, और नयका स्वरूप कीर्तन, अब उन दोनोंसे फल उठानेवाला प्रमाता भी, दो शब्दोंमें बतादेना चाहिये-

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे, जिसका परिचय आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है, वह जीव, आत्मा, प्रमाता है। यह जीव, चैतन्य स्वरूप है, न कि समवाय संबंधसे उसमें चैतन्य रहा है, क्योंकि अतिरिक्त काल्पनिक समवाय माननेमें, कोई मजबूत सबूत नहीं दिखलाई देती।

एवं जीव, परिणामी—कर्त्ता—साक्षाद् भोक्ता—स्वदेह मात्र परिमाणवाला—प्रतिशरीर भिन्न—और पौद्गलिक अदृष्टवाला है।

इन विशेषणोंमेंसे, प्रथम विशेषणसे, जीवमें कूटस्थ नित्यत्व, दूसरे व तीसरेसे, कापिलमत, चौथेसे जीवका व्यापकत्व, पंचमसे अद्वैतमत, और अंतिम विशेषणसे चार्वाक मतका निरास हो जाता है। 'अदृष्टवाला' इतनेहीसे, धर्माधर्मको नहीं माननेवाला चार्वाकमत, यद्यपि निरस्त होजाता, तो भी अदृष्टको जो 'पौद्गलिक' विशेषण दिया है, सो अदृष्टके विषयमें, औरोंकी भिन्न भिन्न विप्रतिपत्तियोंको दूर करनेके लिये,

तथाहि—

यौग आचार्योंने अदृष्टको आत्माका गुण, कापिलपंडितोंने प्रकृतिका विकारस्वरूप, बौद्धोंने वासना स्वभाव, और ब्रह्मवादियोंने अविद्या स्वरूप माना है। मगर जैन शास्त्रकार उसको पौद्गलिक स्वरूप मानते हैं॥

प्रमाण व नयका तत्त्व बता चुके, अब प्रमाण के प्रयोग होनेका स्थानभूत वाद भी थोडा सा बता देते हैं—

वादी और प्रतिवादीकी, आपसमें स्वपक्षके साधने, और दूसरे (विरुद्ध) पक्षके तोडनेकी चर्चाका नाम है वाद।

वादका प्रारम्भ, दो प्रकारसे होता है, एक विजयलक्ष्मी की इच्छासे, दूसरा, तत्त्वके निश्चय करनेकी इच्छासे; इसीसे यह बात खुल जातीहै कि वादी और प्रतिवादी, दोनों दो दो प्रकारके होते हैं–जिगीषु, यानी जय चाहने वाले, और तत्त्वनिर्णिनीषु, अर्थात् तत्त्वका निश्चय चाहने वाले। तत्त्वनिर्णिनीषु भी दो प्रकारके, एक, अपनी आत्मामें, तत्त्वज्ञान चाहनेवाले, दूसरे, प्रतिपक्षीकी आत्मामें तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति चाहने वाले। प्रतिपक्षीकी आत्मामें तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति चाहने वालेभी दो प्रकारके, एक तो क्षायोपशमिक ज्ञानी, अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी,और दूसरे सर्वज्ञ। ये ही चार प्रकारके वादी और प्रतिवादी हुए, इनमें पहिले जिगीषुका वाद, छोड, स्वात्मामें तत्त्वनिश्चय चाहने वाले को, सबके साथ हो सक्ता है, स्वात्मामें तत्त्वनिश्चय चाहने वाला तो खुद ही जब तत्त्वज्ञानकी प्याससे व्याकुल है, तो जय चाहने वालेके साथ उसका सम्बन्ध, मियाँ महादेवकी तरह, कैसे सङ्गत हो सकता है ?। एवं स्वात्माम तत्त्वज्ञान चाहने वालेके साथ भी उसका वाद न

[ज्ञ]ाता-न बनना स्फुट ही है, क्योंकि ये दोनों जब तत्त्व-निर्ण-[य]के पिपासु हैं, तो इन दोनोंकी वाद भूमी नहीं बन सकती। [ब]ाकी बाकीके दो कथकोंके साथ उसका वाद बराबर हो सकता [है], क्योंकि वे, दूसरेकी आत्मामें तत्त्वज्ञान देनेको चाहते हैं। [इ]नमें भी, प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति चाहने वाले अपूर्ण ज्ञानी तो, जिगीषु, स्वात्मामें तत्त्वज्ञान चाहनेवाले, प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञान चाहने वाले अपूर्ण ज्ञानी, और सर्वज्ञके साथ बराबर वाद कर सकते हैं, मगर सर्वज्ञ, सर्वज्ञके साथ वाद नहीं करते, दोनों सर्वज्ञोंका परस्पर वाद होता ही नहीं, सर्वज्ञका वाद स-र्वज्ञको छोड़, उक्त तीन ही कथकोंके साथ होसकता है।

स्फुट मतलब—

जिगीषु १, स्वात्मामें तत्त्वज्ञान चाहनेवाला २, प्रतिपक्षी-को तत्त्वज्ञानी बनाना चाहनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञानी अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी यानी असर्वज्ञ ३, प्रतिपक्षीको तत्त्वज्ञानी बनाना चाहनेवाला सर्वज्ञ ४। ये चार प्रकारके वादी और प्रतिवादी हुए। उनमें, एक एक वादी व प्रतिवादीके वाद होनेमें सोलह भेद पडते हैं।

तथाहि—

१ जिगीषु-जिगीषु १, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु २, प्र-तिपक्षीमें तत्त्वज्ञान होनेके इच्छु असर्वज्ञ ३, और सर्वज्ञ ४ के साथ (ये चार भेद)

२ आत्मामें तत्त्वज्ञानका इच्छु-जिगीषु १, स्वात्मामें तत्त्व-ज्ञानके इच्छु, २, प्रतिपक्षिमें तत्त्वज्ञानके इच्छु असर्वज्ञ ३, और सर्वज्ञ ४ के साथ (ये चार भेद)

३ प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु असर्वज्ञ-जिगीषु १, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु २, प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानके इच्छु असर्वज्ञ ३, और सर्वज्ञ ४ के साथ (ये चार भेद)

४ प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु सर्वज्ञ जिगीषु १, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु २, प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानके इच्छु असर्वज्ञ ३, और प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानके इच्छु सर्वज्ञ ४ के साथ (ये चार भेद)

इस प्रकार सोलह भेद होनेपर भी, पहिले चतुष्क-वर्गमें दूसरा, दूसरे चतुष्क वर्गमें, पहिला और दूसरा, और चौथे चतुष्क वर्गमें, चौथा भेद तोडदेने चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे, जिगीषु-स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु के १ साथ, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु-जिगीषु २ और स्वात्मामें तत्त्वज्ञानके इच्छु ३ के साथ, और सर्वज्ञ-सर्वज्ञके ४ साथवादी व प्रतिवादी नहीं बन सकते, इस लिये ये चार भेद निकाल देने पर, एक एक वादिक प्रतिवादिके साथ वाद होनेमें बाकी रहे बा रह ही भेद समझने चाहियें ।

तथाहि—

वादी-जिगीषु, प्रतिवादी तो, जिगीषु १, (स्वात्मामें तत्त्वज्ञानका इच्छु नहीं) प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु असर्वज्ञ २, और सर्वज्ञ ३ ।

वादी-स्वात्मामें तत्त्वज्ञानका इच्छु, प्रतिवादी तो, (जिगीषु नहीं, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानका इच्छु भी नहीं) प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु असर्वज्ञ ४, और सर्वज्ञ ५ ।

वादी-प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु, प्रतिवादी तो जीगीषु ६, स्वात्मामें तत्त्वज्ञानका इच्छु ७, प्रतिपक्षीमें [illegible] का इच्छु असर्वज्ञ ८, और सर्वज्ञ ९ ।

वादी-सर्वज्ञ, प्रतिवादी तो, जिगीषु १०, स्वात्मामें तत्त्वज्ञा। इच्छु ११, प्रतिपक्षीमें तत्त्वज्ञानका इच्छु असर्वज्ञ १२ (सर्वज्ञ नहीं)। बारह हुए।

जहाँ जिगीषु, वादी अथवा प्रतिवादी है, वह वाद, सभ्य मध्यस्थ, और सभापतिके समक्ष ही में होता है, नहीं तो शायद उपद्रव होनेका प्रसङ्ग आ जाय, इसी लिये जिगीषु के वादको चतुरङ्ग, अर्थात् वादी प्रतिवादी, सभ्य, और सभापति, इन चार अङ्गों करके युक्त होना शास्त्रकारोंने फरमाया है।

जहा तत्त्व निश्चयके उद्देश वाले वादी व प्रतिवादी मिले हों, वहाँ तो सभ्य, सभापतिकी कोई अपेक्षा नहीं, क्यों कि वादी प्रतिवादी, खुद जब तत्त्वके इच्छु हैं, तो सभापति न रहते भी शठता–कलह होनेका कोई प्रसङ्ग नहीं आ सकता, हाँ इतना जरूर है कि दूसरेकी आत्माको तत्त्वज्ञानशालिनी बनाना चाहने वाला अपूर्णज्ञानी प्रतिवादी, सिंह गर्जना करता हुआ भी अगर अच्छी तरह तत्त्वके निर्णयकरनेकी शक्ति न फैलासके, तो जरूर वहाँ मध्यस्थ–सभ्यमहाशयोंकी अपेक्षा पड़ेगी, इसमें कहना ही क्या ?। अगर च, तत्त्व निर्णयको चाहने वाले, वादी और प्रतिवादीमें कोई सर्वज्ञ होगा, तब तो किसी सूरतमें सभ्य, सभापतिकी अपेक्षा नहीं पड सकती, तब ही पड़ेगी, यदि सर्वज्ञके साथ जिगीषुका वाद चला हो।

जिगीषुके साथ वादमें उतरे हुए, सर्वज्ञ, या अपूर्ण ज्ञानी, जिगीषुको तत्त्वज्ञानी बनाना चाहते हैं, जब, जिगीषु, छल भेद, युक्ति प्रयुक्ति, अथवा प्रमाण–तर्कसे, उनका परा-

जय करनेके साथ, अपनी तरफ जयश्रीका आकर्षण चाहता है, कहिये ! अब, ऐसे जिगीषुके चक्र जालमें, बेचारा स्वात्मामें तत्त्वज्ञान चाहने वाला उपस्थित हो सकता है ?, हर्गिज नहीं, वह तो अपनी आत्मामें तत्त्वज्ञानका जन्म देनेके लिये, दूसरेको तत्त्वज्ञानी बनाना चाहने वाले-क्षायोपशमिक ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ, इन्हीके साथ, प्रमाण, तर्क, युक्ति प्रयोगद्वारा वाद-कथा चलाता है ।

प्रश्न—वादके लिये सभ्य कैसे होने चाहियें ? ।

उत्तर—वादि-प्रतिवादिके सिद्धान्तोंके समझनेमें कुशल, उनकी धारणा करनेवाले, बहुश्रुत, प्रतिभा, क्षमा माध्यस्थ्य वाले, और वादी प्रतिवादी, दोनोंकी मुकरर किये गये सभ्यलोक, वादके कामके काबिल ।

प्रश्न—सभासदोंके कौनसे कर्तव्य है ? ।

उत्तर—वादके स्थान, और कथा करवाना, " इसका प्रथम वाद, और इसका सना नियमकरना, साधक बाधकउक्तिके गुण करना, समय अनुसार तत्त्वको प्रकाश कर और यथायोग्य, कथाके जय-पराजय करना, अर्थात् " इसकी जय हुई, यह ॥ फल प्रकाश करना, ये सभासदोंके कर्म हैं

प्रश्न—सभापति कैसा होना

उत्तर—प्रज्ञा, आज्ञै श्वर्य, और क्षत होना चाहिये । प्रज्ञाविनाका सभापति

तत्त्वविवेचनका काम पडेगा तो क्या बोल सकेगा, इसलिये पहले प्रज्ञागुण सभापतिमें अपेक्षित है। वसुन्धरामें जिसका हुकम-प्रताप स्फुरायमान न हो, वह, वाद-सभाके कलह-फिसादको कैसे हटा सकेगा? इसलिये, दूसरा आज्ञैश्वर्यगुण सभापतिमें अवश्य जरूरका है। भूपति-राजालोग, अगर अपना कोप सफल न कर सके, यानी अपने कोपका फल अगर न बनावें, तो अकिञ्चित्करत्वके उदाहरणोंमें, उनका प्रवेश होगा, इसलिये राजाका कोप जब सफल ही होता है, तो कोपी राजाके सभा पतित्वमें वादकी नाक ही कट जायगी, इसलिये क्षमागुण भूषित, सभापति होना चाहिये। सभापति, पक्षपाती होगा, तो सभ्यलोग भी, प्रतापी सभापति, और अन्याय कलङ्कके डरके मारे बेचारे, 'इधर शेर, उधर नदी' का कष्ट उठावेंगे, इसलिये, सभापति, मध्यस्थ होना चाहिये।

प्रश्न—सभापतिके कौनसे कर्म है?।

उत्तर—वादि-प्रतिवादि और सभासदोंके कहे हुए पदार्थोंका अवधारण करना, वादि-प्रतिवादियें, अगर कलह हो जाय, तो उसे दूर करना, "जो जिससे हार जाय, वह उसका शिष्य हो," इत्यादि जो कुछ प्रतिज्ञा, वादके पहले हो चुकी हो, उसे, प्रतिपालन कराना, पारितोषिक देना, इत्यादि सभापतिके कर्म है।

जिगीषु सहित वाद, चतुरङ्ग है। जिगीषु और सर्वज्ञ रहित वादमें, सिर्फ सभ्यकी अपेक्षा कभी होती है, कभी नहीं होती, जिगीषु रहित वादमें सभापतिका तो काम ही नहीं

जय करनेके साथ, अपनी तरफ जयश्रीका आकर्षण चाहता है, कहिये ! अब, ऐसे जिगीषुके चक्र जालमें, बेचारा स्वात्मामें तत्त्वज्ञान चाहने वाला उपस्थित हो सकता है ?, हर्गिज नहीं, वह तो अपनी आत्मामे तत्त्वज्ञानका जन्म देनेके लिये, दूसरेको तत्त्वज्ञानी बनाना चाहने वाले-क्षायोपशमिक ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ, इन्हींके साथ, प्रमाण, तर्क, युक्ति प्रयोगद्वारा वाद-कथा चलाता है ।

प्रश्न—वादके लिये सभ्य कैसे होने चाहियें ? ।

उत्तर—वादि-प्रतिवादिके सिद्धांतोंके समझनेमें बहुत कुशल, उनकी धारणा करनेवाले, बहुश्रुत, प्रतिभा, क्षमा, और माध्यस्थ्य वाले, और वादी प्रतिवादी, दोनोंकी सम्मति पूर्वक मुकरर किये गये सभ्यलोक, वादके कामके काबिल होसकतेहैं ।

प्रश्न—सभासदोंके कौनसे कर्त्तव्य हैं ? ।

उत्तर—वादके स्थान, और कथा विशेषका अङ्गीकार करवाना, " इसका प्रथम वाद, और इसका उत्तरवाद, " इसका नियमकरना,साधक बाधकउक्तिके गुण दोषका अवधारण करना, समय अनुसार तत्त्वको प्रकाश कर कथा बंद करदेना और यथायोग्य, कथाके जय-पराजय फलकी उद्घोषणा करना, अर्थात् " इसकी जय हुई, यह पराजित हुआ, " ऐसा फल प्रकाश करना, ये सभासदोंके कर्म हैं ।

प्रश्न—सभापति कैसा होना चाहिये ? ।

उत्तर—प्रज्ञा, आज्ञैश्वर्य, और मध्यस्थता गुणसे अलङ्कृत होना चाहिये । प्रज्ञाविनाका सभापति, किसी प्रमाणपर

तत्त्वविवेचनका काम पड़ेगा तो क्या बोल सकेगा, इसलिये पहले प्रज्ञागुण सभापतिमें अपेक्षित है। वसुन्धरामें जिसका हुक्म-प्रताप स्फुरायमान न हो, वह, वाद-सभाके कलह-फिसादको कैसे हटा सकेगा ? इसलिये, दूसरा आज्ञैश्वर्यगुण सभापतिमें अवश्य जरूरका है। भूपति-राजालोग, अगर अपना कोप सफल न कर सकें, यानी अपने कोपका फल अगर न बनावें, तो अकिञ्चित्करत्वके उदाहरणोंमें, उनका प्रवेश होगा, इसलिये राजाका कोप जब सफल ही होता है, तो कोपी राजाके सभा पतित्वमें वादकी नाक ही कट जायगी, इसलिये क्षमागुण भूषित, सभापति होना चाहिये। सभापति, पक्षपाती होगा, तो सभ्यलोग भी, प्रतापी सभापति, और अन्याय कलङ्कके डरके मारे बेचारे, 'इधर शेर, उधर नदी' का कष्ट उठावेंगे, इसलिये, सभापति, मध्यस्थ होना चाहिये।

प्रश्न—सभापतिके कौनसे कर्म हैं ?।

उत्तर—वादि-प्रतिवादि और सभासदोंके कहे हुए पदार्थोंका अवधारण करना, वादि-प्रतिवादिमें, अगर कलह हो जाय, तो उस दूर करना, "जो जिससे हार जाय, वह उसका शिष्य हो," इत्यादि जो कुछ प्रतिज्ञा, वादके पहले हो चुकी हो, उसे, प्रतिपालन कराना, पारितोषिक देना, इत्यादि सभापतिके कर्म हैं।

जिगीषु सहित वाद, चतुरङ्ग है। जिगीषु और सर्वज्ञ रहित वादमें, सिर्फ सभ्यकी अपेक्षा कभी होती है, कभी नहीं होती, जिगीषु रहित वादमें सभापतिका तो काम ही नहीं

होता, जिगीषु रहित, सर्वज्ञके वादमें तो स्वय सिद्ध, वादि-प्रतिवादि, ही अङ्ग, काफी हैं, रत्तीभर भी सभासद, और सभापतिकी जरूरत नहीं ।

बस ! यह वाद ही, एक कथा है, वादके सिवाय और कोई जल्प वा वितण्डा, कथा नहीं हो सकती, जल्पका काम वादही से जब सिद्ध है, तो फिर जल्प, जुदी कथा क्यों माननी चाहिये । अगर कहोगे ! कि जल्पम छल, जाति, निग्रह स्थानके प्रयोग होते हैं, जो कि वादमें नहीं हो सकते, यही फरक वाद-जल्पका है, तो, इसके उत्तरम यह समझना चाहिये कि निग्रहस्थानके प्रयोग तो वादमें भी बराबर हो सकते है, मगर ख्याल रहे, कि छल-कपट करके वादीका पराजय करना, और अपनी तरफ विजय कमलाको खींचना, यह न्याय नहीं कहाता, और महात्मा लोग, अन्यायसे, जय वा यश, नहीं चाहते । कभी भयङ्कर प्रसङ्ग पर, अपवाद मार्गमें छलका प्रयोग करना भी पडे, तो भी क्या हुआ, एतावता जल्प-कथा, क्या वादसे जुदी हो सकती है ?, हर्गिज नहीं । वाद ही में भयङ्कर प्रसङ्ग पर, छलका प्रयोग अगर किया जाय, तो क्या राज शासनके उल्लंघनका भय होगा ? । वितण्डा तो बाल चापल ही है, उसे भी कथा कहने वालोंका क्या आशय होगा, उसे वे ही जानें ॥

यह न्याय विषय स्वाभाविक गहन, बहुत वक्तव्योंसे भरा है, मगर क्या किया जाय ? क्योंकि यह लेख, ग्रन्थ रूपमे तो है नहीं, जिससे सक्षेपसे भी पदार्थ तत्त्वकी चर्चा करनी

उचित समझी जाय। इस लिये इस लघु लेखमें इतना ही न्याय तत्त्वका परिचय कराना उचित समझ कर अब मैं विराम लेता हूं ॥

ले. न्यायविजय ।

शार्दूलविक्रीडित–श्लोक

जिन्हों के उपदेश से, परिषदा, श्रीजैनसाहित्य की
पैदा की, मरुदेश, जोधपुर में, विद्वद्गणों से भरी ।
उन्हीं, श्री प्रभु धर्मसूरि वर के, आदेश हीसे, वहीं
शिष्य–न्यायविशारद श्रमण ने, श्रीन्याय-शिक्षा रची ॥१॥

॥ समाप्ता न्यायशिक्षा ॥